AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

राजनीति समझैं सकलः धूमिल

ORIGINAL ARTICLE

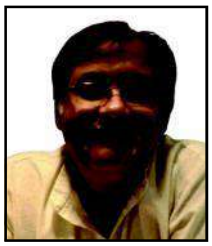

Author
डॉ. अनिल कुमार
एसोसियेट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
बेनितो हुआरेज मार्ग, नई दिल्ली, भारत

शोध सार

हिंदी साहित्य के इतिहास में गिनेचुने ही साहित्यकार हैं जो कम आयु में कम रचनाओं के बाद भी ख्याति अर्जित की हो और इतिहास में स्थान बना लिया हो। सुदामा पांडेय ''धूमिल'' उन में से एक हैं। वे अपने समय के बिखराव को चौकन्ना होकर देखते.सुनते हैं और कविता में सचेत आवेश के रूप में प्रकट करते हैं। सार्थक और न्यायपूर्ण जीवन की तलाश में तत्कालीन राजनीति की परतें खोलते हैं। संभवतः इसीलिए धूमिल देश की राजनीतिक व्यवस्था और उस व्यवस्था से उत्पन्न होने वाला भ्रष्टाचार को ही सारी गड़बड़ी की जड़ मानते है। सन् 1960–70 के बीच की छटपटाहट ही उनकी कविता का स्वर है। शासक भ्रष्ट है और जनता जड़ फिर भी ध ूमिलदेश एवं जनता के भीतरी दुःख को समझने वाले कवि हैं। इस शोध आलेख में स्वातंत्र्योत्तर भारत के यथार्थ से उभरे विद्रोही कवि के कविताओं में सकल राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है।

मुख्य शब्द

जनतंत्र, स्वराज्य, आंदोलन, प्रगतिशील, निषेधवाद, राष्ट्रीयता.

लगभग बीस वर्ष के कांग्रेसी शासन के बाद, कवियों की नयी पौध में, व्यवस्था से मोह–भंग का स्वर उभरता है। 1964 ई. में नेहरू की मृत्यु के बाद मध्यवर्गीय दृष्टि के स्थान पर जनवादी–दृष्टि का प्रसार होने लगता है। कांग्रेस के दोमुँहे शासन.व्यवस्था के खिलाफ लोगों में जो दबा हुआ विद्रोह उभरा वह विद्रोह जन–चेतना के उभार के कारण पैदा हुआ था। धूमिल, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, आदि की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। सुदामा पांडेय 'धूमिल' वस्तुतः 1967 ई. के नक्सलबाड़ी आन्दोलन की ऊपज थे। स्वाधीन भारत की सत्ता–व्यवस्था के प्रति जनता का आक्रोश सामने आ चुका था। 1967 के आम चुनाव में नौ राज्यों में कांग्रेस चुनाव हार चुकी थी। 1966 ई. के रूपये के अवमूल्यन ने भारतीय अर्थव्यवस्था की पोल खोल दी थी। विषम आर्थिक स्थिति, भूमिहीन किसानों की बदहाली ने संसदीय प्रणाली के प्रति जनता की आस्था को हिला दिया था। इसकी विस्फोटक अभिव्यक्ति थी, नक्सलबाड़ी आंदोलन।

धूमिल ग्रामीण मानसिकता वाले कवि थे। शहरी मध्यवर्ग की जीवन–शैली ने उन्हें और अकेला कर दिया। इनकी कविताओं में व्यक्त आवेश एवं उत्तेजना को हमें इसी संदर्भ में देखना चाहिए। धूमिल के आवेश एवं आक्रोश की व्याख्या भी संभवतः आक्रोश की मुद्रा में ही आज तक की गई है। ग्रामीण पृष्ठभूमि का एक संवेदनशील व्यक्ति जब अपना धैर्य खो देता है तो उसकी वाणी थोड़ी असंयमित तो हो ही जाती है। वैसे भी धूमिल ने यदि लोकतंत्र

का निषेध किया हो तो क्या! आज जो हो रहा हैः

''सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुजरते हुए
अपने आप से सवाल करता हूँ
क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है।''[1]

आखिर यह आजादी किसकी थी। यह प्रश्न तत्कालीन समय की अपेक्षा आज ज्यादा प्रासंगिक हो रहा है। यह सही है कि धूमिल विचारधारात्मक संघर्षों पर भी प्रहार करते हैं। कुछ विद्वानों का यहाँ तक कहना है कि प्रगतिशील विचारधारा के अभाव में ही धूमिल में निषेधवादी प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु आज प्रगतिशील विचारधाराओं की वैचारिक परिणति भी तो सामने है! क्या आज भी धूमिल एक प्रतिक्रियावादी कवि ही है।

अपने समय के तमाम सत्ता.विरोधी विचारों वाले बुद्धिजीवियों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता का सुख तो भोगा ही, यह अकारण नहीं कि नेहरू के दिवाने वामपंथियों ने पहले तो इंतजार किया, फिर इंदिरा गांधी के समय तक आते–आते ''गरीबी'–हटाओ'' से लेकर ''बेरोजगारी'' जैसे मुद्दे भी इनके हाथों से निकल गए। औरः

''तुम चुप रहोगे और लज्जा के
उस निरर्थ गुंगेपन से सहोगे।
यह जानकर कि तुम्हारी मातृभाषा
उस महरी की तरह है, जो
महाजन के साथ रात भर
सोने के लिए
एक साड़ी पर राजी है
सिर कटे मुर्ग की तरह फड़कते जनतंत्र में सुबह
सिर्फ, चमकते हुए रंगों की चालबाजी है।''[2]

आजादी के ''बीस साल बाद'' के जनतंत्र का यह सवेरा है। यहाँ आंदोलन समझौता परस्ती के रास्ते पर अग्रसर है। किसी ''मातृभाषा'' का ''महाजन'' के साथ सोने के लिए महज एक साड़ी पर राजी होना, कुछ टुच्ची सुविधाओं के लिए जनता की भावनाओं से खिलवाड़ करना ही है। धूमिल ने पहले ही समझ लिया था। यह दिगर बात है कि यही हम आज देख–भोग रहे हैं। यह अकारण नहीं है कि उसे 'सहसा' यह बात समझ में आ जाती हैः

''उस मुहावरे को समझ गया हूँ
जो आजादी और गांधी के नाम पर चल रहा है
जिससे न भूख मिट रही है, न मौसम बदल रहा है।
लोग बिलबिला रहे हैं, पेड़ों को नंगा करते हुए।
पत्ते और छाल
खा रहे हैं
मर रहे हैं,
दानकर रहे हैं।
जलसों–जुलुसों में भीड़ की पूरी ईमानदारी से
हिस्सा ले रहे हैं और
अकाल को सोहर की तरह गा रहे हैं।''[3]

''गाँधी'' सत्ता पाने का एक सबसे विश्वसनीय ''ब्रांड'' हैं। यह आजादी के बाद का विकास है। प्राकृतिक आपदाऐं तो रोकी नहीं जा सकतीं, परन्तु ''सोहर'' गाने की व्यंजना बहुत कुछ बता देती है। धूमिल के पूर्व, एक समाज निरपेक्ष ''स्व'' वादी कविता का दौर अपने पूरे शबाब पर था। यह चेतना युवा कवियों में अपराध बोध की तरह छाया हुआ है इसलिए कविता की मुद्रा में एक तरह का आवेश भरा दायित्व–बोध या मुखर नैतिक आग्रह है। धूमिल मध्यवर्ग को भी कटघरे में खड़ा कर देते हैं:

''अपने दिमाग के आत्मघाती एकांत में
खुद को निहत्था साबित करने के लिए
मैंने गांधी के तीनों बंदरों की हत्या की है
देश–प्रेम की भट्ठी जलाकर
मैं अपनी ठंडी मांसपेशियों को विदेशी–मुद्रा में
ढाल रहा हूँ।''[4]

स्वाधीनता आंदोलन के दरम्यान अर्जित नैतिक मूल्यों एवं निर्धारित राजनीतिक उद्देश्यों का गलाए राजनीतिज्ञों एवं सुखासीन तबकों ने मिलकर ही घोंटा है।

''मगर चालाक 'सुराजिये'
आजादी के बाद के अंधेरे में
अपने पुरखों का रंगीन बलगम
और गलत इरादों का मौसम जी रहे थे।''[5]

स्वराज्य की लड़ाई लड़ने वाले ''गलत इरादों का मौसम'' जी रहे हैं। इतना ही नहीं कवि आजादी के बाद के समय को ''अंधेरा'' की संज्ञा देता है। स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय भागीदारी की कीमत वसूलते नेताओं ने ही कवि को ''जनतांत्रिक जंगल'' कहने को मजबूर कर दिया।

''मैंने देखा कि जनतांत्रिक जंगल में
हर तरफ हत्याओं के नीचे से निकलते हैं
हरे–हरे हाथ और पेड़ों पर
पत्तों की जुबान बनकर लटक जाते हैं
वे ऐसी भाषा बोलते हैं जिसे सुनकर
नागरिकता की गोधूली में
घर लौटते हुए मुसाफिर
अपना रास्ता भटक जाते हैं।''[6]

धूमिल के यहाँ ''जंगल'' भारतीय समाज–व्यवस्था का प्रतीक है जहाँ हर हत्या के पीछे इसी व्यवस्था से जुड़े लोगों का हाथ है। कवि यह स्पष्ट देखता है कि राजनेता जनता को असली मुद्दों से भटकाने का कार्य कर रहे हैं। शासक–वर्ग ने विरोध की भाषा को भी हड़प लिया है। फलतः जनता इनके दिशाहीन सत्ता–संचलन में पिसने को मजबूर हो गई है।

लोकतंत्र के तीस–पैंतीस वर्ष बाद भी लोगों की आकांक्षाएँ पूरी होती नजर नहीं आ रही थीं। ये तीस वर्ष भ्रष्टाचार', सत्तालोलुपता, जातिवाद, क्षेत्रीयता, तात्कालिक स्वार्थ आदि से घिरे हैं। एक ऐसी समाज व्यवस्था में युवाओं के पास सिवाय व्यवस्था बदने के और कोई चारा नहीं है। व्यवस्था परिवर्तन की इस लड़ाई के लिए जो शक्तियाँ पहले से सक्रिय हैं, वे खोखला हो चुकी हैं:

''और मैं सोचने लगता हूँ कि इस देश में
एकता युद्ध की और दया

अकाल की पूँजी है।
क्रांति ..
यहाँ के असंग लोगों के लिए
किसी अबोध बच्चे के ..
हाथों की जूजी है।।''[7]

परिवर्तनकामी शक्तियों की क्रियाशीलता धीरे–धीरे अप्रासंगिक होते जाने में दिखाई दे रही थी। सन् 1967 के चुनाव में जनसंघ को मिली सफलता इसके प्रमाण हैं। दक्षिणपंथी ताकतें सत्ता.वर्ग की असफलताओं से धीरे–धीरे शक्ति पाने लगी। राजनीतिक दलों के चरित्र पर टिप्पणी करते हुए 'धूमिल' ने लिखा हैः

''सिर्फ एक शोर है
जिसमें कानों के पर्दे फटे जा रहे हैं
शासन, सुरक्षा, रोजगार, शिक्षा
राष्ट्रधर्म, देशहित, हिंसा–अहिंसा
सैन्यशक्ति, देशभक्ति, आजादी, वीसा
वाद, विरादरी, भूख–भीख, भाषा,
शांति, क्रांति, शीतयुद्ध, एटम बम, सीमा
एकता, सीढ़ियाँ, साहित्यिक, पीढ़ियाँ, निराशा
झाँय–झाँय, खाँय–खाँय, हाय–हाय, साँय–साँय।
.....
मैंने देखा हर तरफ
रंग बिरंगे झंडे फहरा रहे हैं
गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए
गुट से गुट टकरा रहे हैं
वे एक–दूसरे से दाँत किल किल कर रहे हैं
एक–दूसरे को दूर–दूर, बिल–बिल कर रहे हैं।''[8]

ये सभी सामाजिक, राजनीतिक समस्याऐं कोरे वादे में बदलते चले गए। विभिन्न राजनीतिक दल इन समस्याओं पर ही अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकनी प्रारंभ कर दी। अब तो ये समस्याऐं ही नहीं रही बल्कि चुनाव में उछालने के मुद्दे भर रह गए। एक संवेदनहीन व्यवस्था में जीने वाले नौजवान किस बदहाली में घिसटते हैं, इसका सुन्दर चित्र ''धूमिल'' की ''पतझड़'' शीर्षक कविता में देखा जा सकता हैः

''मैंने रोजगार.दफ्तर से गुजरते हुए–
नौजवान को
यह साफ–साफ कहते सुना है।
इस देश की मिट्टी में
अपने जाँगर का सुख तलाशना
अंधी लड़की की आँखों में
उससे सहवास का सुख तलाशना है।''[9]

अपने श्रम का सुख तलाशना स्वप्न हो गया है। स्पष्ट है कि जहाँ रोजगार देने के बदले व्यवस्थाऐं ''रोजगार–दफ्तर'' ही खोल सकी, वहाँ भला श्रम का सुख कैसे संभव होगा। इसी कविता में कवि ने ''देश'–.प्रेम'' को ''भ्रम'' की संज्ञा दी है। बेकार नौजवानों के लिए देश–भक्ति अब अतीत की चीज हो गई है। धूमिल ने भाषा

को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया था और अपने समय की मौजूदा परिस्थितियों में अपने मुहावरे को उसकी लगभग अंतिम संभावनाओं तक पहुँचा दिया था।

स्वतंत्रता संग्राम की सबसे बड़ी उपलब्धी थी कि उसने मध्यवर्ग को विशाल जनसाधारण से जोड़ा था। मध्यवर्ग को जनसंवेदी और जनसेवी बनाया था। उनमें जनता के प्रति दायित्व की भावना जगाकर उनको जनहित में त्याग और संयम की जीवन.शैली अपनाने के लिए प्रेरित किया था। आजादी के बाद यह मध्यवर्ग उग्र–व्यक्तिवाद, आत्म संतोष एवं स्वार्थ केन्द्रित हो गया। जन साधारण की समस्याओं से यह वर्ग तेजी से अपने को काटता गया। धूमिल मध्यवर्ग में आ रहे इस परिवर्तन को साफ देख रहे थे। आजादी के बाद मध्यवर्ग एक ऐसा वर्ग है:

''जो परिवर्तन तो चाहता है
मगर आहिस्ता–आहिस्ता
कुछ इस तरह की चीजों की शालीनता
बनी रहे।
कुछ इस तरह की काँख भी ढँकी रहे
और विरोध में उठे हुए हाथ की
मुट्ठी भी तनी रहे....।
और यही वजह है कि बात
फैसले की हद तक
आते–आते रूक जाती है
क्योंकि हर बार
चन्द टुच्ची सुविधाओं की लालच के सामने
अभियोग की भाषा चुक जाती है।''[10]

सार्थक और न्यायपूर्ण जिन्दगी की तलाश के लिए धूमिल का काव्य स्वाधीन भारत की हिन्दी कविता का नक्सलबाड़ी है। यह ध्यान देने योग्य है कि धूमिल चारों ओर समकालीन बिखराव को चौकन्ना होकर देखते.सुनते हैं और पशुता के विरुद्ध स्वर उठाते हैं। उनके काव्य में कहीं जनतंत्र का खोखलापन है तो कहीं सामाजिक कुरूपताओं का नग्न चित्र। धूमिल को आजादी के बाद का हिन्दुस्तान अपनी पूरी दुर्दशा के साथ दिखलाई देता है। उसने अंधा अतीत और लंगड़ा भविष्य, दोनों को समझा है। आजादी के बीस साल बाद, कवि प्रश्न करता है कि:

बीस साल बाद
मैं अपने आप से सवाल करता हूँ
जानवर बनने के लिए कितने सब्र की जरूरत है।[11]

''आजादी'', ''वन महोत्सव'', ''शांति'', ''जनतंत्र'', ''मनुष्यता'' आदि शब्दों से प्रसन्न होते हुए 'पटकथा' का काव्य.नायक इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि:

''अब कोई बच्चा
भूखा रहकर स्कूल नहीं जाएगा
अब कोई छत बारिश में
नहीं टपकेगी
अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में
अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा।''[12]

सन् 1962 के चीनी आक्रमण ने भारत की स्वाधीनता की पोल खोल दी। योजनाऐं चलती रहीं और बंदूकों के कारखाने में जूते बनते रहे। देश में नफरत, साजिश और अंधेरा देखने के बाद पटकथा का नायक जनता का

विश्लेषण करता है। जनता क्या हैः

''एक शब्द सिर्फ एक शब्द हैः
कुहरा और कीचड़ और काँच से बना हुआ.....।
एक भेड़ है
जो दूसरों की ठंड के लिए
अपनी पीठ पर
ऊन की फसल ढो रही है।''[13]

धूमिल को हिन्दुस्तान में मनुष्य के चारों–ओर बढ़ते, सघन होते जिस घेराव का पूरा–पूरा एहसास है,, वह केवल बौखलाहट में व्यक्त नहीं होता। 'धूमिल में बौद्धिक समझ भी है जो एहसास को संयमित करती और गहरा बनाती है। ''धूमिल मात्र अनुभूति के नहीं, विचार के भी कवि हैं। उनके यहाँ अनुभूतिपरकता और विचारशीलता, अहसास और समझ, एक–दूसरे से घुले'–मिले हैं और उनकी कविता मात्र भावात्मक स्तर पर नहीं बल्कि बौद्धिक स्तर पर भी संयोजित और सक्रिय होती है।'[14] सरकार यदि भूख नहीं मिटा सकती तो उसके प्रति आस्था कैसे रह सकती है। इतना ही नहीं तटस्थ रहना भी असंभव है। कवि को लगता है कि ''नफरत'' ही इस युग का सत्य हैः

''धुएँ से ढके हुए
आसमान के नीचे
लगता है कि हर चीज
झूठ है
आदमी
देश
आजादी
और प्यार
सिर्फ 'नफरत' सही है।''[15]

यह अकारण नहीं है कि धूमिल के यहाँ जनतंत्र का एक भयानक चेहरा उभरता है। सन् साठ के बाद की कविता पर विचार करते हुए डॉ. नन्दकिशोर नवल ने लिखा है कि ''समकालीन कविता का प्रमुख नारा है– व्यवस्था का विरोध। यह विरोध सही ढंग से किया जा रहा हो या गलत ढंग से लेकिन इसमें कोई शक की बात नहीं कि यह विरोध राजनीतिक है। इस प्रकार समकालीन कविता मूलतः राजनीतिक कविता है।''[16] साहित्य और राजनीति के आपसी संबंध पर वर्षों से चले आ रहे विवाद को एक तरह से साठोत्तरी कवियों ने समाप्त कर दिया।

आजादी के साथ लोगों की आकांक्षाएँ जुड़ी हुई थीं वे कांग्रेस शासनकाल में टूटने लगीं। निर्धनता, बेरोजगारी आदि के साथ–साथ दूसरी समस्याएँ पूर्ववत बनी रहीं। समाज में चिंतन का स्थान स्वार्थ ने ले लिया और नेतागण समाज के सामने मोहक नारे रखने लगे। जनता ने भीड़ का रूप ले लिया। नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का विघटन हो गया। ऐसे में धूमिल का कवि यह महसूस करता है किः

''उन्होंने किसी चीज को
सही जगह नहीं रहने दिया है
न संज्ञा
न विशेषण
न सर्वनाम
एक समूचा और सही वाक्य
टूटकर

बिखर गया है।
भूख से मरा हुआ आदमी
इस मौसम का
सबसे दिलचस्प विज्ञापन है और गाय
सबसे सटीक नारा है
वे खेतों में भूख और शहरों में
अफवाहों के पुलिंदे फेंकते हैं
देश और धर्म और नैतिकता की
दुहाई देकर
कुछ लोगों की सुविधा
दूसरों की 'हाय' पर सेंकते हैं।''[17]

धूमिल देश एवं जनता के भीतरी दुःख को समझने वाला कवि है। वह हिंसा मात्र का नहीं, बल्कि जनपक्षधर हिंसा का कवि है तथा इसी के माध्यम से 'दूसरे प्रजातंत्र' की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील है। कवि स्वाधीनता के कर्मधारों की असफल राजनीतिक भूमिका पर प्रहार तो करता ही है, परन्तु जब वह जनता की जड़ता को देखता है तो उसका विषाद और बढ़ जाता है। शासक भ्रष्ट तथा जनता जड़, ऐसे में धूमिल का कवि तड़प उठता हैः

मुझे अपनी कविताओं के लिए
दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है।[18]

यह दूसरा प्रजातंत्र धूमिल का विकल्प है। यह कैसा होगा, इसका कोई स्पष्ट चित्र धूमिल की कविताओं में नहीं मिलता, परन्तु इतना तो तय है कि यह चुनाव के द्वारा संभव नहीं है। निर्वाचन द्वारा व्यवस्था परिवर्तन से मोह–भंग हो चुका है। कवि स्पष्ट देखता है कि इस प्रजातंत्र में कुछ चतुर लोगों ने जनसाधारण को अपने लाभ के लिए राजनीतिशास्त्र और संसदीय प्रणाली विकसित कर लिया है। फलतः कवि पाठकों को एक सशस्त्र दृष्टि देता है। संघर्ष करने का सलाह देता हैः

''गीली मिट्टी की तरह। हाँ–हाँ .. मत करो तनो
अकड़ो
अमर बेलि की तरह मत जियो
जड़ पकड़ो
बदलो, अपने आप को बदलो।''[19]

धूमिल ने समाज के समस्त थोथे मूल्यों को नकारा और उन सब समस्याओं की ओर संकेत किया जो हम सब की हैं। युग की यंत्रणा एवं पाशविकता से परिचित होते हुए भी धूमिल ने पलायन नहीं किया। संभवतः यही कारण है कि एक ही संदेश की पुनरावृतिधूमिल के यहाँ बहुत पायी जाती है। वह बार–बार आह्वान करता है कि हमें अब और सहन नहीं करना चाहिए। जनता की दुर्दशा के लिए जो वर्ग उत्तरदायी है, उन पर हमला कर देना चाहिएः

''चीख, अपने होने की पीड़ा से चीख
लीक तोड़
अब और तरह
मत दे
साफ–साफ कह दे।
भूख जो कल तक रोशनी थी
आज नींद से पहले का
जागरण है।''[20]

समाज के निचले तबके को धूमिल आगाह करता है कि रोज–रोज के लिए कुआं खोदकर पानी पीने से संतुष्ट मत होओ। क्षणिक सुविधा परस्ती मनुष्य को कायर तो बनाती ही है, बल्कि शोषण को बढावा भी देती है। अतः वह चेतावनी देता है कि:

''इस खाली पेट के सिवा
तुम्हारे पास वह कौन–सी सुरक्षित
जगह है, जहाँ खड़े होकर
तुम अपने दाहिने हाथ की
साजिश के खिलाफ लड़ोगे।''[21]

पेट का खाली होना यहाँ कमजोर नहीं अपितु ताकतवर बनाना है। गरीब का पेट इसलिए नहीं खाली है कि वह मेहनत–मजूरी नहीं करता बल्कि यह समाज के उच्च.वर्ग की साजिश है जिसके खिलाफ लड़ना अब लाजिमी हो गया है। स्वाधीन भारत के शासक–वर्ग एवं उच्च वर्ग के गठबंधन को धूमिल ने देख लिया था। यह वर्ग किस प्रकार अपने स्वार्थ की खातिर लालायित था यह किसी से छिपा नहीं है। डॉ. खगेन्द्र ठाकुर ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक ''कविता का वर्तमान'' में लिखा है कि: ''छठे दशक में पूँजीवादी विकास–पथ में लोगों में कुछ संभावना होती थी, लेकिन 1963–64 आते–आते यह संभावना धूमिल होने लगी। हमारे स्वाधीन शासन की योजनाओं और लुभावनी भाषा से जनता का मोह–भंग होने लगा। आर्थिक संकट गहरा होता जा रहा था। अभूतपूर्व मंहगाई, बेरोजगारी आदि के जरिये लोगों को संकट का बोध हुआ।''[22]

जिस साठोत्तरी कविता के खाते में ''धूमिल'' को रखा जाता है, उसे आलोचकों ने ''विद्रोही कविता'' और ''अकविता''[23] वर्ग में बाँटा है। वस्तुतः, इस साठोत्तरी कविता ने ''नयी कविता'' की तुलना में व्यक्ति की विकृतियों का, टूटन पराजय बोध, बीमारी, ऊब, निरर्थकता और असहाय स्थिति का अंकन किया है, साथ ही मध्यवर्गीय व्यक्ति की आत्मग्लानि और अपराधबोध की अभिव्यक्ति भी इस दौर की कविता में हुई है। कवियों की यह पीढ़ी समाज में पायी जानेवाली रूग्णता, विकृतियों और भुखमरी आदि के लिए प्रचलित लोकतंत्रीय प्रणाली व परंपरा को जिम्मेवार मानती है इसीलिए साठोत्तरी कवियों ने लोकतंत्र काए संसद का, चुनाव का और पंचवर्षीय योजनाओं का अपनी कविताओं के जरिये विरोध किया है। इन्होंने इसे ''खाली बोतलों''[24] की संज्ञा दी है।

परंपरा के सवाल पर मुख्यरूप से राजकमल चौधरी व धूमिल ने ही लिखा है। राजकमल चौधरी के यहाँ परंपरा, नैतिकता और इतिहास परस्पर संबद्ध ही नहीं, बल्कि एक–दूसरे के पर्याय हैं। अज्ञानता के कारण परम्परा का निर्वाह किया जा रहा है। परंपरा वह मध्यवर्गीय नैतिकता है जिसमें सभी कुछ बिना जाने स्वीकार कर लिया जाता है।

''मैंने पहली बार महसूस किया है कि नंगापन
अंधा होने के खिलाफ
एक सख्त कार्यवाही है।''[25]

नंगा होना नैतिकता को अस्वीकार करना है, नैतिकता अज्ञानता का मुख्य कारण है, यह अज्ञानता ही अंधापन है इसीलिए नंगेपन को अंधे होने के विरुद्ध एक सख्त कार्यवाही बताया गया है। धूमिल की प्रतिनिधि व चर्चित कविता ''पटकथा'' पूर्णतया एक राजनीतिक कविता है। इस लंबी कविता की शुरूआत आजादी से अपार अपेक्षाओं के विवरण से होता है। ''पटकथा'' का नायक ''मै'' आजादी का स्वागत करता है। वह स्वाधीनता का संबंध 'हवा', खेत, घास, धूप, अनाज के अंकुर, कसरत करते बच्चे, चिड़ियों की चहचाहट, खेत जोतते बैलों से जोड़ते हुए उसे एक व्यापक परिदृश्य प्रदान करता है। इस प्रकार कवि आजादी का यह समूचा परिदृश्य ग्रामीण संस्कार लिये हुए है। ''असल में धूमिल की संवेदना पूरी तरह से जागरूक और चौकन्ना होते हुए भी सिर्फ शहराती नहीं है। उसमें गहरा ग्रामीण संस्कार भी है और इसीलिए उनकी कविताओं में जाहिर सच्चाई सिर्फ शहराती सच्चाई नहीं है बल्कि यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि धूमिल में शहराती बौद्धिकता और ग्रामीण संवेदना एक रचनात्मक तनाव की स्थिति में रहकर उनकी कविता के संदर्भ को व्यापक और ठोस बनाती है।''[26] ''मैं'' काव्य–नायक के इस भावोच्छवास में आजादी ढेर

सारी उम्मीदों एवं आकांक्षाओं को जन्म देती है। उसे लगता है कि उसके या आम आदमी सभी प्रकार के दुःखों का अन्त अब एकदम निकट है।

आजादी से मोहभंग की प्रक्रिया में धूमिल ने कविता में देश की वर्तमान स्थिति का विस्तार से वर्णन किया है। जल्दी ही नायक की समझ में आ जाता है कि जनतंत्र, त्याग, स्वतंत्रता, संस्कृति, शांति, मनुष्यता ये सब सत्ताधारी वर्ग की ओर से जनता को दिए गए सुनहरे वादे हैं जो देखने, सुनने में सुन्दर और मौलिक हैं मगर वे शब्द–मात्र हैं, जीवन की वास्तविकता नहीं। फिर भी आज नहीं कल, सब कुछ सही होने की उम्मीद में ''मैं'' अपनी सम्मोहित बुद्धि के नीचेः

''उसी लोकनायक को
बार–बार चुनता रहा
जिसके पास हर शंका और
हर सवाल का एक ही जवाब था
यानि कि कोट के बटन–होल में
महकता हुआ एक फूल
गुलाब का।''[27]

''मैं'' उस पूरे युग का प्रतिनिधित्व कर रहा है जिसमें पूरा का पूरा जन समुदाय इस लोकनायक के व्यक्तित्व से सम्मोहित है। माना कि ''विश्व शांति'' तथा ''पंचशील'' जैसे सिद्धांतों का स्वरूप साम्राज्यवाद विरोधी था परन्तु उससे हुआ क्या परिवर्तन के नाम पर पुरानी तस्वीरों को झाड़–पोंछकर दीवार पर फिर उसी जगह लगा दिया, वन–महोत्सव के नाम पर पौधा लगा दिया, तथा विश्व शांति के नाम पर एक जोड़ा कबूतर खाली दरबे में डाल दिया। स्थिति ज्यों–की–त्यों बनी रही। इस प्रकार मतदान होते रहे, दिन बीतते रहे और एक दिन ''मैं'' सच्चाई को देख स्तब्ध हो गया। उसने देखा किः

लोग
घरों के भीतर नंगे हो गए हैं
और बाहर मुर्दे पड़े हैं
विधवाएँ तमगा लूट रही हैं
वन'–महोत्सव से लौटी हुई कार्य प्रणालियाँ
अकाल का लंगर चला रही हैं
जगह–जगह तख्तियाँ लटक रही हैं
यह शमशान है, यहाँ की तसवीर लेना
सख्त मना है।''[28]

समूचा देश मानो एक बहुत बड़े शमशान में बदल गया है। चारों ओर अकाल, भुखमरी, गरीबी व मृत्यु का साम्राज्य फैला हुआ है। विषमता का कुचक्र इतना भयानक है कि समाज का अधिसंख्य समुदाय अकाल, भुखमरी का शिकार है तो कुछ लोग फल–फूल रहे हैं। यह भयावह स्थिति हैः.

''फिर भी इस उजाड़ में
कहीं–कहीं घास का हरा होना
कितना डरावना है।''[29]

मटमैले गरीबी के बीच यह हरियाली संपन्नता का टापू है। मटमैले रंग के साथ संपन्नता का हरा रंग कॉंट्रास्ट में होकर स्थिति की भयावहता को उजागर कर रहा है। तटस्थता या गुटनिरपेक्षता अपने आप को सुरक्षित रखने का साधन बन गई है। दरअसल आजादी के बाद मूल्यपरक अवधारणाओं के अर्थ में आए बदलाव के माध्यम से धूमिल

व्यवस्था की अमानवीयता एवं मूल्यहीनता का पर्दाफाश करते हुए उस पर तीखा प्रहार करते हैं। परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार ''पटकथा'' पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होता है कि ''आजादी के बाद के राजनीतिक माहौल में सांस लेने वाले विक्षुब्ध और एक हद तक निराश युवा व्यक्ति का तीखा, विचलित करने वाला स्वयांलाप है जिसके बहाने वह समूचे वातावरण की मूल्यहीनता, ढोंग, पाखंड और अमानवीय स्वार्थ का निर्मम भंडाफोड़ करते हुए रहे सहे विकल्पों का अन्तःपरीक्षण करना चाहता है और अंततः गहरे आत्मालोचन से भी बाज नहीं आता।''[30] इस प्रकार ''पटकथा'' में धूमिल मुख्यतः दो मोर्चों पर एक साथ लड़ाई लड़ते हैं। एक तो शोषण पर आधारित व्यवस्था की अमानवीयता का भंडाफोड़ करने के क्रम में जनतंत्र, चुनाव एवं संसद को अस्वीकार करते हुए किसी अन्य प्रजातंत्र की तलाश की आवश्यकता महसूस करते हैं तथा दूसरे, मध्यवर्ग की समझौता–परस्ती, अवसरवादिता और आत्मकेन्द्रिकता पर तीखा प्रहार करते हुए स्वयं को भी लताड़ते हैं। यह अलग बात है कि पहले की परिणति व्यक्तिवाद पर आधारित नक्सलवाद में होती है और दूसरे की निष्क्रियता एवं घोर निराशा है:

''यह मेरा देश है.....
हिमालय से हिंद महासागर तक
फैला हुआ
जली हुई मिट्टी का ढेर है।''[31]

इसी निराशा के कारण हिमालय से हिन्द महासागर तक फैला हुआ पूरा का पूरा देश जली हुई मिट्टी के ढेर में बदल गया है। ऐसा लगता है कि अपनी व्यक्तिगत ''निराशा को धूमिल ने संपूर्ण देश और जनता पर प्रक्षेपित कर दिया है।''[32] अर्थव्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था का आधार होती है। लेकिन धूमिल के राजनीतिक परिदृश्य के माध्यम से वर्तमान स्थिति के आकलन करने का प्रयत्न किया है। ''धूमिल की समझ यह है कि राजनीतिक व्यवस्था और उस व्यवस्था से उत्पन्न होने वाला भ्रष्टाचार ही सारी गड़बड़ी की जड़ है। इस समझ के कारण देश की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर उनका ध्यान नहीं जाता है और उससे लड़ने की बात कौन कहे वे उसकी आलोचना भी नहीं करते। यह चीज हमें 1974–75 के सम्पूर्ण क्रांति के आंदोलन की याद दिलाती है जिसमें संसद और विधानसभाओं को ही सभी अनर्थों की जड़ और भ्रष्टाचार की गंगोत्री बतलाया गया था और विधानसभाओं को भंग करने की मांग से संसद को भंग करने की मांग की दिशा में बढ़ा जा रहा था। ऐसी मांग करने वालों का उद्देश्य था पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर से जनता का ध्यान हटाकर उसे राजनीतिक व्यवस्था में उलझा देना। इन लोगों ने राजनीतिक परिवर्तन को ही 'क्रांति' के रूप में प्रचारित किया।''[33]

जनता, जनतंत्र और संसद से निराशा, प्रचलित मूल्यों, मान्यताओं और व्यवस्था का अस्वीकार धूमिल को गहरे आत्मालोचन की ओर ले जाता है। वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विसंगतियों के प्रति उसके मन में बेचौनी, खीझ और आक्रोश है साथ ही वह सुविधाजीवी और अवसरवादी भी है। इतना ही नहीं, भारत का यह मध्यवर्ग एक ओर यदि वह क्रांति का अगवा बनकर निम्न वर्ग से जुड़ना चाहता है तो दूसरी ओर अपने निजी हितों को नजरअंदाज न कर पाने के कारण वह पूंजीपति वर्ग का पिछलग्गू भी है। संभवतः इन्हीं कमजोरियों से लड़कर बाहर निकलने का आह्वान धूमिल ने ''कल सुनना मुझे'' में करता है:

''बीस सेवों की मिठास से भरा हुआ यौवन
जब फटता है तो न सिर्फ टैंक टूटते हैं
बल्कि खून के छींटे जहाँ–जहाँ पड़ते हैं
बंजर और परती पर आजादी के कल्ले फूटते हैं।''[34]

''बंजर'' व ''परती'' में नये बीज की संभावना धूमिल ''सशस्त्र क्रांति'' में देखते हैं। स्वाधीनता के बाद दस–पंद्रह सालों तक यह भ्रम बना हुआ था कि भारत तेजी से चौतरफा विकास कर रहा है। इस भ्रम के दो कारण दिखलाई पड़ते हैं: एक तो लुभावनी व आकर्षक योजनाएँ तथा दूसरी, यह मानसिकता कि अब ''स्वराज्य'' आ गया है। यहाँ के लोग तो अब भारत के बारे में ही सोचेंगे, यहाँ की जनता के बारे में सोचेंगे और ''रामराज'' का स्वप्न

साकार होगा। तमाम आकर्षक योजनाओं के बावजूद देश का असमान विकास हुआ। कुछ शिखर चमक उठे, बाकी अंधेरे में चले गए। विकास की मुख्य धारा में गाँव कभी नहीं आए। मंहगाई और बेकारी दोनों प्रतिस्पर्धा करती हुई तेजी से बढ़ी। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य का जीना कठिनतर होता गया। एक ओर स्वार्थ, संबंधहीनता, विफलता और दूसरी ओर महंगाई, गरीबी, भूख ने शहरी जीवन में बीमारी, थकान, टूटन, पराजय बोध, निरर्थकता, अकेलापन व मृत्युबोध उत्पन्न किया तो गाँवों में भूख और गरीबी का प्रसार किया। इन परिस्थितियों ने जन–असंतोष को बढ़ावा दिया जो शहरी जीवन की अपेक्षा गाँवों में अधिक मुखर हुआ।

19वीं सदी में भारतेन्दु ने लिखा थाः

''राजनीति समझैं सकल पावहिं तत्त्व विचार
पहिचानैं निज धरम को जानैं शिष्टाचार।''[35]

राष्ट्रीय चेतना में जिस राजनीतिक चेतनाको भारतेन्दु से नागार्जुन और मुक्तिबोध तक ने विविध दृष्टियों से देखा, जो छायावाद में आकर क्रांति मूलक हो गयी। जयशंकर प्रसाद और निराला के काव्य–क्रांति की जिस भावना से मंडित हुए और राष्ट्रकवि रामधारी सिंह ''दिनकर'' ने ''हिमालय'', ''रेणुका'' और ''हुंकार'' में जिसे अभिव्यक्त किया उसी छटपटाहट को धूमिल ने 1960–70 के बीच महसूस किया। राजनीतिक चेतना के रूप में ''क्रांति का स्वर'' जनवादी कवि की चेतस पीड़ा से उद्‌भूत है।

निष्कर्ष

19वीं सदी में भारतेन्दु ने लिखा थाः

'राजनीति समझैं सकल पावहिं तत्त्व विचार
पहिचानैं निज धरम को जानैं शिष्टाचार।'

राष्ट्रीय चेतना में जिस राजनीतिक चेतना को भारतेन्दु से नागार्जुन और मुक्तिबोध तक ने विविध दृष्टियों से देखा, जो छायावाद में आकर क्रांति मूलक हो गयी – जयशंकर प्रसाद और निराला के काव्य–क्रांति की जिस भावना से मंडित हुए और राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'हिमालय', 'रेणुका' और 'हुंकार' में जिसे अभिव्यक्त किया – उसी छटपटाहट को धूमिल ने 1960–70 के बीच महसूस किया। राजनीतिक चेतना के रूप में 'क्रांति का स्वर' जनवादी कवि की चेतस पीड़ा से उद्‌भूत है। धूमिल राजनीतिक रूप से सचेत कवि हैं। वे 'जनतंत्र' को 'राजतंत्र' बनकर उभरते हुए साफ–साफ देख पा रहे हैं, इसकी टीस उनकी कविताओं में स्पष्ट देखी जा सकती है। राष्ट्रीयता, देशप्रेम इत्यादि दिखावटी नारे में तब्दील होते जा रहे हैं, धूमिल इसे महसूस करते हैं और अपनी कविताओं में बिना किसी लागलपेट के व्यक्त करते हैं। वे आम जनता और खासकर मध्यवर्ग को अपनी सहूलियतों और सुविधाओं से बाहर आकर देश और समाज की वस्तुस्थिति को समझने और देखने की कामना करते हैं।

संदर्भ सूची

1. धूमिल, (1972) *संसद से सड़क तक,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 12।
2. वही, पृ. 15।
3. वही, पृ. 18–19।
4. वही, पृ. 51।
5. वही, 'पटकथा' कविता से।
6. धूमिल, (1972) *संसद से सड़क तक,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 20।
7. वही, पटकथा से।
8. धूमिल, (1972) *संसद से सड़क तक,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 65।

9. वही, पृ. 65।
10. वही, पृ. 11।
11. वही, पटकथा से।
12. वही, पटकथा से।
13. वाजपेयी, अशोक (2007) *फिलहाल,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 25–26।
14. धूमिल, (1972) *संसद से सड़क तक,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 21।
15. वही, पृ. 84।
16. नवल, नंदकिशोर (2023) *कविता की मुक्ति,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 51।
17. धूमिल, (1972) *पटकथा,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 'नक्सलबाड़ी' से, पृ. 122।
18. वही, 'प्रौढ़–शिक्षा' से।
19. वही, पृ. 105।
20. वही, 'भाषा की रात' से।
21. वही, 'नक्सलबाड़ी' से।
22. ठाकुर, खगेन्द्र (1992) *कविता का वर्तमान,* परिमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 178।
23. तिवारी, अजय (1994) *समकालिन कविता और कुलीनतावाद,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 17।
24. चौधरी, राजकमल (1988) *इस अकारण बेला में,* संव सुरेश शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 204।
25. धूमिल, संसद से सड़क तक, पृ. 27।
26. वाजपेयी, अशोक (2007) *फिलहाल,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 29।
27. धूमिल, पटकथा से।
28. वही।
29. वही।
30. श्रीवास्तव, परमानंद (2014) *शब्द और मनुष्य,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 157।
31. धूमिल, संसद से सड़क तक, पृ. 114।
32. नवल, नंदकिशोर (2023) कविता की मुक्ति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 130।
33. वही, पृ. 136।
34. धूमिल, (2021) *कल सुनना मुझे,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 24।
35. भारतेन्दु समग्र, (2000) संपा. हेमंत शर्मा, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, वाराणसी, संस्करण 2000, पृ. 229।

––==00==––